जैनदर्शन में जीवद्रव्य

डॉ० श्रेयांस कुमार जैन

प्राचीन काल से भारत वर्ष में प्रधान रूप से आचार और विचार सम्बन्धित दो परम्पराएं विद्यमान हैं। आचार पक्ष का कार्य धार्मिकों ने सम्पादित किया और विचार पक्ष का बीड़ा भारतीय-चिन्तक-मनीषियों ने उठाया। आचार का परिणाम धर्म का उद्भव और विचार का परिणाम दर्शन का उद्भव है।

दर्शन शब्द का सामान्य अर्थ है—देखना, साक्षात्कार करना तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से किसी वस्तु का निर्णय करना।

भारतीयों के सामने 'दुःख से मुक्ति पाना' यही प्रधान प्रयोजन था। इसी प्रयोजन की सिद्धि हेतु विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं ने जन्म लिया। दुःख से छुटकारा कराने वाली प्रमुख विचारधाराएं इस प्रकार हैं—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। इन्हें विद्वानों ने आस्तिक और नास्तिक दो शाखाओं में विभाजित किया है। उत्तरवर्ती षड्वैदिक दर्शनों (सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा) को आस्तिक और प्रथम तीन (चार्वाक, बौद्ध, जैन) को नास्तिक संज्ञा दी है।

वस्तुतः उक्त वर्गीकरण निराधार है। आस्तिक और नास्तिक शब्द **अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः**—पा०४/४/३० इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक-सत्ता को मानने वाला आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि इन दोनों में परलोक-सत्ता को दृढ़ता से स्वीकार किया गया है।

कुछ दार्शनिकों ने षड्दर्शन बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय स्वीकार किये हैं।[1]

जैन दर्शन भारतीय दर्शनों का समन्वित स्वरूप है। इसमें द्रव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक[2] होता है। गुणपर्याय वाला द्रव्य भी कहा गया[3] है। अनेक गुण और पर्याय युक्त द्रव्य के मूल षड् भेद हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल[4]।

प्रथम जीव-द्रव्य का जैन दर्शन में स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में विशद विवेचन प्राप्त होता है, उसी का संक्षिप्त निर्देशन किया जा रहा है—

जीव का सामान्य स्वरूप उपयोग[5] है। उपयोग का अर्थ है—ज्ञान और दर्शन। ज्ञानोपयोग दो प्रकार का है—स्वभावज्ञान और विभावज्ञान। जो केवल—निरूपाधिरूप, इन्द्रियातीत तथा असहाय अर्थात् प्रत्येक वस्तु में व्यापक है, वह स्वभावज्ञान है और उसी का नाम केवलज्ञान[6] है। विभावज्ञान सज्ज्ञान और असज्ज्ञान के भेद से दो तरह का है। सज्ज्ञान चार प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय।

---

१. 'दर्शनानि षडेवात्रमूलभेदव्यपेक्षया—
बौद्धं नैयायिकं सांख्यं, जैनं वैशेषिकं तथा।
जैमिनीयं च नामानि, दर्शनानामभूत्यहो ॥', षड्दर्शनसमुच्चय, ३

२. 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्', तत्वार्थसूत्र, ५/३०

३. 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्', वही, ५/३८

४. 'जीवापोग्गल काया धम्माधम्मा य काल आयासं।
तच्चत्था इदि भणिदा णाणगुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥', नियमसार, गा० ९

५. 'जीवो उवओगमओ उवओगो णाणदंसणो होई।
णाणुवओगो दुविहो सहावणाणं विभावणाणत्ति ॥', वही, गा० १३

६. वही, ११-१२

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुमति, कुश्रुत और विभंगावधि के भेद से असज्ज्ञान तीन प्रकार का है। इसी प्रकार दर्शनोपयोग भी दो प्रकार[1] का है—स्वभावदर्शनोपयोग और विभावदर्शनोपयोग। जो इन्द्रियरहित और असहाय है, वह केवलदर्शन स्वभावदर्शनोपयोग है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधि-दर्शन ये तीनों विभाव दर्शनोपयोग है।

ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमय जीव ही आत्मा है। चेतयिता है। अकलंकदेव ने कहा है कि **दशसु प्राणेषुयथोपात्तप्राणपर्यायेण त्रिषु कालेषु जीवनानुभवनात् जीवति अजीवीत् जीविष्यति वा जीवः, राजवार्तिक**, ९/४/७/२५।

जैन दर्शन में जीव (आत्मा) के स्वरूप का प्रतिपादन सभी दर्शनों को दृष्टि में रखकर किया गया है। इसके स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक विशेषण किसी न किसी दर्शन से सम्बन्ध रखता है—जैसा कि नेमिचन्द्र सिद्धान्तदेव की गाथा से स्पष्ट है—

जीवो उवओगमओ अमुत्तो कत्ता सदेहपरिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥, द्रव्यसंग्रह, २

जीव, उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिणामी है, भोक्ता है, संसारी है, सिद्ध है, और स्वभाव से ऊर्ध्वगमन करने वाला है।

चार्वाक आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व न मानकर शरीर को ही आत्मा मानता है।

जीव सदा जीता है वह अमर है कभी नहीं मरता है। उसका वास्तविक प्राण चेतना है, जो उसी की तरह अनादि और अनन्त है। उसके व्यावहारिक प्राण भी होते हैं, जो पर्याय के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं। पांच ज्ञानेन्द्रियां, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु ये दस प्राण संज्ञी पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, नारकियों में होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय के नव प्राण, चार इन्द्रिय वाले के आठ, तीन इन्द्रिय वाले के सात, दो इन्द्रिय वाले के छः और एकेन्द्रिय के चार प्राण होते हैं। योनियों के अनुसार प्राणों में परिवर्तन होता रहता है। शरीर का परिवर्तन होता रहता है किन्तु चैतन्य नष्ट नहीं होता। अतएव शरीर की अपेक्षा जीव (आत्मा) भौतिक है और चेतना की अपेक्षा अभौतिक है।

नैयायिक और वैशेषिक आत्मा को ज्ञान का आधार मानते हैं। जैन दर्शन में आत्मा को आधार और ज्ञान को आधेय नहीं माना गया किन्तु जीव (आत्मा) ज्ञानस्वभाव वाला माना गया है जैसे कि अग्नि ऊष्णस्वभावात्मक है। अपने से सर्वथा भिन्न ज्ञान से आत्मा कभी ज्ञानी नहीं हो सकता है।[2]

भाट्टमतानुयायी मीमांसक और चार्वाक आत्मा को मूर्त पदार्थ मानते हैं किन्तु जैन दर्शन की मान्यता है कि पुद्गल में जो गुण विद्यमान है, आत्मा उनसे रहित है जैसा कि कहा गया है—

अरसरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं॥[3]

जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, स्पर्शरहित, शब्दरहित, पुद्गल रूप लिंग (हेतु) द्वारा नहीं ग्रहण करने योग्य, जिसके किसी खास आकार का निर्देश नहीं किया जा सकता ऐसा और चेतना गुण वाला जानो।

इस प्रकार यह अमूर्त है तो भी अनादिकाल से कर्मों से बंधा हुआ होने के कारण व्यवहार दृष्टि से उसे कथञ्चित् मूर्त भी कहा जा सकता है। शुद्ध स्वरूप की अपेक्षा अमूर्त और कर्मबंध की अपेक्षा मूर्त यदि उसे सर्वथा मूर्त माना जायेगा, तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा। पुद्गल और उसमें भेद नहीं रहेगा। अतएव कथञ्चित् की दृष्टि से निर्धारित किया गया है।

भारतीय दर्शनों में आत्मा के आकार के सम्बन्ध में मतान्तर प्रचलित हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य, मीमांसक आदि आत्मा का अनेकत्व स्वीकार करते हुए आत्मा को सर्वव्यापक मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार आकाश सर्वव्यापक है उसी प्रकार आत्मा (जीव) भी सर्वव्यापक है। उपनिषद् में आत्मा के सर्वगत और सर्वव्यापक होने का उल्लेख है।[4] अंगुष्ठमात्र[5] तथा अणुमात्र[6] होने का भी निर्देश है।

---

१. नियमसार, १३-१४
२. 'जीवो णाणसहावो जह अग्गी उह्णवो सहावेण।
अत्थंतरभूदेण हि णाणेण ण सो हवे णाणी॥', कार्तिकेयानुप्रेक्षा, १७८
३. समयसार, ४९
४. 'सर्वव्यापिनमात्मानम्', श्वेता०, १/१६
५. 'अंगुष्ठमात्रपुरुषः।', वही, ३/१३
६. कठो०, ९/२/२०

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन में कहा गया है कि आत्मा के प्रदेशों का दीपक के प्रकाश की भांति संकोच और विस्तार होने से वह (जीव) अपने छोटे-बड़े शरीर के परिमाण का हो जाता है। अर्थात् हाथी के शरीर में उसी जीव के प्रदेशों का विस्तार और चींटी के शरीर में संकोच हो जाता है। उक्तञ्च—

जह पउमरायरयणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि ॥, पञ्चास्तिकाय, ३३

जैसे दूध में डाली हुई पद्मरागमणि उसे अपने रंग से प्रकाशित कर देती है, वैसे ही देह में रहने वाला आत्मा भी अपनी देहमात्र को अपने रूप से प्रकाशित कर देता है। अर्थात् वह स्वदेह में ही व्यापक है देह के बाहर नहीं, इसीलिए जीव स्वदेह-परिणाम वाला है। यह स्थिति समुद्घात दशा के अतिरिक्त समय की है। समुद्घात में तो उसके प्रदेश शरीर के बाहर भी फैल जाते हैं। यहां तक कि सारे लोक में व्याप्त हो जाते हैं। इसीलिए जैन दर्शन में आत्मा (जीव) को कथञ्चित् व्यापक तथा कथञ्चित् अव्यापक माना गया है।

सांख्य दर्शन में आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार न कर भोक्तृत्व को स्वीकार किया है।[1] कर्तृत्व तो केवल प्रकृति में है, पुरुष (जीव) निष्क्रिय है। जैन दर्शन के अनुसार जीव (आत्मा) व्यवहार नय से पुद्गल-कर्मों का, अशुद्ध निश्चय नय से चेतन-कर्मों का और शुद्ध निश्चय नय से अपने ज्ञानदर्शन आदि शुद्ध भावों का कर्त्ता है। उक्तञ्च—

कत्तासुहासुहाणं कम्माणं फलभोयओ जम्हा।
जीवो तप्फलभोया भोया सेसा ण कत्तारा ॥, वसु० श्र०, ३५

जीव अपने शुभ और अशुभ कर्मों का कर्त्ता है क्योंकि वही उनके फल का भोक्ता है। इसके अतिरिक्त कोई भी द्रव्य न कर्मों का भोक्ता है और न कर्त्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व का कोई विरोध नहीं। यदि भोक्ता मानना है तो कर्त्ता अवश्य मानना होगा। इस प्रकार एक दृष्टि से कर्त्ता और दूसरी दृष्टि से अकर्त्ता हैं।

बौद्ध दर्शन क्षणिकवादी है, अतएव वह आत्मा के कर्त्ता और भोक्ता रूप का ऐक्य स्वीकार नहीं करता है। यदि आत्मा को कर्मफल का भोक्ता नहीं माना जायेगा, तो जो कर्म करेगा उसे फल प्राप्त न होकर अन्य को फल प्राप्त होगा। इससे अव्यवस्था हो जायेगी। इसलिए आत्मा अपने कर्मों के फल का भोक्ता अवश्य है। इतना अवश्य है कि आत्मा सुख-दुःख रूप पुद्गल-कर्मों का व्यवहार दृष्टि से भोक्ता है और निश्चय दृष्टि से वह अपने चेतन भावों का ही भोक्ता है। अतएव वह कथञ्चित् भोक्ता और कथञ्चित् अभोक्ता है।

सदाशिवदर्शन में कहा गया है कि आत्मा कभी भी संसारी नहीं होता, वह हमेशा शुद्ध बना रहता है। कर्मों का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, कर्म उसके हैं ही नहीं। जैन दर्शन का इस सम्बन्ध में भिन्न दृष्टिकोण है कि प्रत्येक जीव पहले संसारी होता है, तदनन्तर मुक्तावस्था को प्राप्त होता है। संसारी अशुद्ध जीव है। अनादि काल से जीव अशुद्ध है, वह ध्यान के बल से कर्मों का संवर-निर्जरा और पूर्ण क्षय करके मुक्त होता है। पुरुषार्थ से शुद्ध होता है। यदि जीव पहले संसारी नहीं होता तो उसे मुक्ति के उपाय खोजने की भी आवश्यकता नहीं है। जैन दर्शन का यह भी कहना है कि जीव को संसारस्थ कहना व्यावहारिक दृष्टिकोण है। शुद्ध नय से तो सभी जीव शुद्ध हैं। इस प्रकार जैन दर्शन जीव को एक नय से विकारी मानकर दूसरे नय से अविकारी मान लेता है।

भाट्ट-दार्शनिक मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं, उनके अनुसार आत्मा का अन्तिम आदर्श स्वर्ग है। आत्मा सदा संसारी ही रहता है, उसकी मुक्ति होती ही नहीं मुक्ति नाम का कोई पदार्थ नहीं है। चार्वाक तो जीव की सत्ता ही नहीं मानता है। तब मुक्ति को भी कैसे स्वीकार करेगा, वह तो स्वर्ग को भी नहीं मानता। आत्मा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों को नष्ट करके सिद्ध हो जाता है, इसीलिए सिद्ध का स्वरूप बताते हुए सिद्धान्तदेव नेमिचन्द्र ने कहा है —

णिकम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदोसिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥, द्रव्यसंग्रह, १४

जो ज्ञानावरणादि आठ कर्मों से रहित हैं, सम्यक्त्व आदि आठ गुणों के धारक हैं और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार वाले हैं, वे सिद्ध हैं और उर्ध्वगमन स्वभाव के कारण लोक के अग्रभाग में स्थित हैं, नित्य हैं तथा उत्पाद-व्यय से युक्त हैं।

जीव के संसारी और मुक्त दोनों विशेषण तर्कसंगत हैं। हां जैन दर्शन में कुछ जीव अभव्य होते हैं, जिन्हें मुक्ति नहीं मिलती।

माण्डलिक का कहना है कि जीव निरन्तर गतिशील है वह कहीं भी नहीं ठहरता चलता ही रहता है। जैन दर्शन उसे उर्ध्वगमन वाला मानकर भी वहीं तक गमन करने वाला मानता है, जहां तक धर्म द्रव्य है। वास्तविक स्वभाव उर्ध्वगमन है। अशुद्ध दशा में कर्म जिधर ले जाते हैं, वहां जाता है किन्तु कर्मरहित जीव उर्ध्वगमन करता है और लोक के अग्रभाग में ठहर जाता है। इसके आगे द्रव्य की गति नहीं है इसलिए जीव उर्ध्वगामी होकर भी निरन्तर उर्ध्वगामी नहीं है, यह जैन दर्शन की मान्यता है।

---

१. सांख्यकारिका, १७-१९

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीव द्रव्य के हेतु प्रयुक्त सभी विशेषण सार्थक हैं तत्तत् दर्शनों की मान्यताओं के प्रतिपक्ष के रूप में उल्लिखित हैं।

यह जीवद्रव्य दो प्रकार का है (१) संसारी (२) मुक्त[1]। जो अपने संस्कारों के कारण नाना योनियों में शरीरों को धारण कर जन्म-मरणरूप से संसरण करते हैं, वे संसारी हैं। जो मन, वचन और कायरूप दण्ड अर्थात् योगों से रहित है; जो किसी भी प्रकार के संघष से अथवा शुभ और अशुभ के द्वन्द्व से रहित है, जो बाह्य पदार्थों की सम्पूर्ण ममता से रहित है, जो शरीर रहित है; जिसे किसी प्रकार का आलम्बन नहीं, जो रागरहित, द्वेषरहित, मूढ़तारहित और भयरहित है वही आत्मा सिद्धात्मा[2] है।

इन्द्रिय की अपेक्षा से जीव के भेद—एकेन्द्रिय जीव के केवल स्पर्शनेन्द्रिय होती है।[3] पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय ये पांच प्रकार के स्थावर एकेन्द्रिय हैं। दो, तीन, चार और पंचेन्द्रिय वाले सभी जीव त्रस होते हैं। दो इन्द्रिय के स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती हैं जैसे लट आदि। तीन इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना और घ्राणेन्द्रियां होती हैं जैसे पिपीलिका आदि। चार इन्द्रिय के स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन्द्रिय होती है जैसे भ्रमर आदि। पंचेन्द्रिय के भी दो भेद हैं, संज्ञी और असंज्ञी। मनसहित मानव, पशु, देव, नारकी संज्ञी हैं।[4] मनरहित तिर्यञ्च जाति के जलचर, सर्प आदि असंज्ञी हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वैदिक भारतीय दर्शनों में वर्णित जीव द्रव्य का स्वरूप जैन दर्शन का ही आधार है क्योंकि जैन दर्शन में व्यापक रूप से जीव द्रव्य का व्याख्यान किया गया है अन्य दर्शनों में एक-एक अंश का अवलम्बन लिया गया है। प्रस्तुत लेख में जीव-द्रव्य की महत्ता को बतलाते हुए जैन दर्शन में इसके स्वतन्त्र अस्तित्व और बहु-व्यापकता पर संक्षिप्त प्रकाश मात्र डाला गया है।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा वेदान्त आदि वैदिक दर्शनों में ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता और कर्मफल का दाता माना गया है, परन्तु जैन दर्शन सृष्टिकर्त्ता और कर्मफल के दाता के रूप में ईश्वर की कल्पना ही नहीं करता। जैन दर्शन जीवों की विभिन्न परिणतियों में ईश्वर को कारण न मानकर, कर्म को ही कारण मानता है। अध्यात्म-शास्त्र के मर्मस्पर्शी सन्त देवचन्द्र जी ने कहा है—

रे जीव साहस आदरो, मत थावो तुम दीन।
सुख-दुःख सम्पद् आपदा पूरब कर्म अधीन॥

जैन दर्शन के अनुसार जीव जिस प्रकार कर्म करने में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार उनके फल का भोग करने में भी स्वतन्त्र है। इस सन्दर्भ में एक विद्वान् जैनाचार्य का कथन है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद्विमुच्यते॥

अभिप्राय यह है कि आत्मा स्वयं ही कर्म का करने वाला है और स्वयं ही उसका फल भोगने वाला भी है। स्वयं ही संसार में परिभ्रमण करता है और स्वयं ही सांसारिक बन्धन से मुक्ति भी प्राप्त कर लेता है।

जीव को उसके कर्म ही सुख-दुःख देते हैं, कोई और नहीं। जैसे कि ध्वजा हवा के कारण अपने आप उलझती-सुलझती है।

को सुख को दुख देत है, कर्म देत झकझोर।
उरझै सुरझै आप ही, ध्वजा पवन कै जोर॥

(आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज कृत उपदेशसारसंग्रह, भाग ४, दिल्ली, वी० नि० सं० २४८४ तथा भाग २, जयपुर, वि० सं० २०३९ से उद्धृत)

१. 'संसारिणोमुक्ताश्च', तत्वार्थसूत्र, १०
२. 'णिद्दंडो णिद्दद्वन्द्वो णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा।', नियमसार, ४३
३. 'एइंदियस्स फुसणं एक्कं चिय होइ सेस जीवाणं।
एयाहिया य तत्तो जिब्भाघाणक्खि सोत्ताइं॥', पञ्चास्तिकाय, १/६७
४. 'संज्ञिनः समनस्काः।', तत्वार्थसूत्र, २/२४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org